आती हूँ
जैसे मृत्यु



नन्दकिशोर आचार्य

आती है जैसे मृत्यु

वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास चन्दन सागर
बीकानेर-334 001

© नन्दकिशोर आचार्य

संस्करण 1990

मूल्य पचास रुपये मात्र

आवरण पारदर्शी एन एम ओल्लानिया
आन्तरिक छाया हाकम शर्मा (सौजन्य विगाना)
सज्जा तूलिका

मुद्रक साँखला प्रिन्टर्स
चन्दन सागर बीकानेर

ISBN 81-85127 29-8

AATI HAI JAISE MRITYU (Poetry)
by Nand Kishore Acharya Rs 50.00

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली।

—अज्ञेय

अनुक्रम

उतर गयी है झील

राग मरुगन्धा तीन

बेघर हुआ जाता शहर

उठो
जागो
चेतो

सूरज

आयी तुम
सूरज की तरह
नहीं देख पाया मैं जिसकी ओर—
उसी में देख रहा हूँ
सारी दुनिया।

1990

तुम्हारे नाम

तुम्हारे नाम ही
रचता रहूँगा मैं
और क्या होती है कविता —
यों शब्द के अस्तित्व होने के सिवा ?

1987

कविता

शब्द कहते है
हमारे दु ख मे कविता—
और वे
जो उस को छुपा लेते है ?

1988

हर बार

हर बार
हरा हो जाता जंगल
          बारिश में
लेकिन मैं जो ठूठ हूँ
हर बार
और गल जाता हूँ।

1987

धुंध

पूरी दुनिया को
देती मुझ से काट —
नहीं मगर रहने देती
अपने में
मुझ को
धुंध !

1989

सूनी दुपहर

सूनी-सूनी-सी दुपहर यह
स्पन्दित है
सिर्फ पेंडुकी के रव से —
जो यदि होता नहीं
तो यह दुपहर भी
मुर्दा जैसी ही होती।

1983

हँसी अब भी है

हँसी अब भी है
कहीं पर बीच ही में
गुम हो जाती हुई
आंसू निकल आने के अन्देशे से
बोलता रहे कोई जैसे बेआवाज़ ।

इसीलिए मैं
माफ कर देता हूँ तुम्हें
गो कि करना माफ तुम को
खुद को सज़ा देना है ।

1989

लौट आती है आवाज़

लौट आती है आवाज
नीम-अँधेरे में टकरा कर पत्थरो से
फडफडाहट के साथ ।

'चिपक जाते है चमगादड
सुन्दर लडकियो के चेहरो पर'
—छेडता है लडका
मुस्कुराता हुआ

और अचानक
हो जाता है उदास ।

1970

पत्थर नहीं हुआ

रास्ता चलते
कौन जान सकता है
कि यह जो इतना ऊँचा
            और मजबूत
दीखता है पहाड
थोडी-सी तेज हवा मे
            खिरने लगता है।

अभी यह
पत्थर नही हुआ।

1989

दया

दया करती हुई मुझ पर
वह सौंप देती है अपनी देह
जैसे बुहारती है मेरा कमरा
धोती है मेरे कपड़े
और पकाती है मेरा खाना ।

देह को दया चाकू बना देती है
गहरे तक आत्मा में घुपा ।

1990

बार बार

अपने ही बमरे मे
अपनी किताबो के बीच
रखी हुई हो चिट्ठी हिफाजत से
अचानक एक दिन खो जाय

और यह जानता भी मैं
कि वह हर्गिज मिलेगी नहीं
हर व्यस्तता मे उसी को सोचूं
हर फुर्सत मे उस को ढूँढता जाऊ
हर-हर पन्ने पर हर किताब मे
बार-बार

1990

खुल कर

खुल कर हो रही बारिश
खुल कर नहाना चाहती लड़की
अपनी खुली छत पर ।

किन्तु लोगों की खुली आँखें
उस को बन्द रखती हैं
खुल कर हो रही
बरसात में ।

1987

देह होने दो

मूंद लो पलकें—
तुम्हारी कामना तब भी मुंदेगी नही
पकती रहेगी वन्द सीपी मे।

कुच उदग्र हो जायेंगे कपोल रक्तिम
बारिश मे भीगी वनखडी-सी
सिहरेंगी साधें श्यामल
उमडेंगी दुकूल मे बँधी हुई
नदिया-सी सोनल जघाएँ
चम्पक तन रह-रह कर कँपित, विह्वल।

पलकें मूद लो
और देह होने दो
अपनी आत्मा को
खुद को छुपाती हुई मुझ से जो
किसी गहरी कसक-सी
छलक जाती है अजाने ही
तुम्हारी करुण आखो मे।

1987

नहीं जानती नदी

नदी क्या जानती है
उस का बहना, न बहना
क्या अर्थ रखता है
—नहीं, समुद्र के लिए नहीं,
सूरज के लिए ।

तुम कुछ नहीं जानती, नदी !
बहती रहो, बस !

1937

हरा टाँच वह

पक-पक कर झर गये पात
बिखरे हैं सब
पूर्णकाम, गरिमामय ।

कहीं बीच में
हरा टाँच वह
—नोच कर डाल दिया
जाने किसने—
कलप रहा है
डाली पर ही छूट गये
सपनों की ख़ातिर ।

किसी और पत्ते से लेकिन
जा लिपटे हैं
डाली के सपने ।

1988

यदि सचमुच

हाँ, जानता हूँ
तुम दया कर देते
और मैं अमर हो जाता
पर मैंने जोर दिया अपने होने पर
और अब मै नही रहूँगा

लेकिन सोचो तो ज़रा
कि अपने साथ तुम ने क्या किया है
तुम—जो ईश्वर थे करुण —
निमम और डरावनी मृत्यु बन कर
रह गये हो !

तब भी क्या मुझ को
मार सकोगे तुम—
यदि सचमुच
तुम से ही बना हूँ मैं ?

1985

शाम फैलती हुई

शाम फैलती हुई श्यामल पेड़-सी
घने पत्तों में खिली
चम्पा कुसुम-सी तुम ।

तुम्हें आलोकित भला मैं क्या करूँगा
तुम्हारी पँखुरियों से लिपट
चम्पई आभा बनूँगा
एक पल के लिए —
सूरज डूब जाये
और हो जाऊँ अँधेरा मैं
इस से पूर्व ।

1987

यही है क्या प्यार

कितना असहाय था मैं
अन्देशों से घिरा, काँपता हुआ प्रतिपल
जब सब कुछ सुरक्षित था
और हवाएँ हर तरह अनुकूल ।

अब सभी कुछ घनघोर झंझावात में है—
मैं कितना बेफिक्र !

यही है क्या प्यार
समुद्री तूफानों के बीच
लहरों पर उछलती हुई
एक टूटी नाव पर
बेफिक्र करती हुई
स्मृति यह ?

1987

तुम ने क्या चाहा होता

क्या चाहता हूँ मैं अपने लिए —
तुम्हें या तुम्हारी याद को ?
विधाता ने मुझ से पूछा।

मैं तब से तरद्दुद में हूँ
सोचता हुआ —
तुम ने क्या चाहा होता ?

या कि मुँह बिचका कर
हतप्रभ कर दिया होता
उस बूढ़े और कृपण विधाता को !

1987

मैंने जब उसे देखा

मैंने जब उसे देखा
वह एक बुढ़िया की तरह बैठी थी
जाने किन बीती आहटों को
अपने में सुनती।
मैंने धीमे-से पूछा
आ सकता हूँ दबे पाँव ?
वह हँस दी
किसी मुग्धा की पहली
स्वप्निल हँसी
और इतनी युवा हो गयी
और सुन्दर
जितनी और कभी नहीं।

1987

जाने क्या

जाने क्या याद आया उसे
मेरी किस बात पर
और आँखें छलछला आयी

मैं चुप, सकपकाया-सा
कि अचानक फैल गयी एक उज्ज्वल मुस्कुराहट
धुले चेहरे पर मुँदी पलकों
और बन्द होठों से फूटती

मैं बुद्धू-सा देखता रहा अपलक
पर खुश कि अब वह रो नही रही है
'पर हुआ क्या ?'
साहस कर मैंने पूछा आखिर

आँख भर देखा उस ने मुझे
और बेतहाशा खिलखिलाने लगी
इतना कि आँखे छलछला आयी फिर

1987

ओछा है मेरा प्यार

कितना अकेला कर देगा मेरा प्यार
तुम को एक दिन —
अकेला और सन्तप्त
अपनी समूची देह से मुझे सोचती हुई
तुम जब मुस्कुराओगी—औपचारिक !

प्यार मैं तुम्हे तब भी करता रहूँगा
शायद अब से अधिक
क्योंकि मैं हूँगा सन्ताप का कारण तुम्हारे ।

आज तुम्हे प्यार करते हुए
यह सब सोच कर मैं विकल
चेहरा छुपा लेता हूँ
तुम्हारे कोमल उरोजा के बीच ।
तुम ग्रीवा पर, लवो पर, होठो पर,
पलको पर, माथे पर
हौले से चम लेती हो मुझे —
या निबन्ध करती हो।

कितना ओछा है मेरा प्यार,
कितना आत्मकेन्द्रित,
तुम्हारे प्यार के आगे !
सब कुछ जान कर भी मैं
अपने से बाँधता हूँ तुम्हे —
सब कुछ जान कर भी तुम
मुझे निबन्ध करती हो ।

1987

झरीं चीड की सुइयाँ

झरी चीड की सुइयो ने
छा ली है सारी ढाल
—नही, भाग अब नही सकोगी
इस पर
मुम्किन है बस बैठे-बैठे
यहाँ फिसलना धीरे-धीरे
और सँभल कर

बीच-बीच मे ठहर-ठहर कर
करते हुए याद
ताम्रवर्णी ये सुइया
पेडो पर ही हरी टाँच
होती थी तब की।

1987

तुम आयी हो

तुम आयी हो —
तपती दुपहर में
आयी है भीगी हुई खस में से
ठण्डी हवा झोंके भर —
जलते अंगों पर
करती चन्दन लेप ।

सारी शाम
सूख कर झरता रहेगा
वदन से मेरे यह चन्दन
सारी शाम मेरी
रहेगी तुम से सुवासित ।

1987

मिमजर

तुम्हारे आने की खबरें है
नीम पर मिमजर ।

मिट्टी के भीगे कुल्हड़ मे
फिर पिऊँगा शर्बत—
मीठा, सुवासित, ठण्डा
झीने अँधेरे मे बैठ कर ।
चुक जायेगा वह तो
आँखो पर रखे रहूँगा देर तक
रीता हुआ कुल्हड़
महसूस करते हुए
उस की निंदियायी शीतलता
जाने के देर बाद तक
तुम्हारे साथ का अहसास ।

1987

अटका हुआ

बाहों के आकाश को
रूपाभ करती हुई
यह तुम्हारी देह
खुलती और सिमटती हुई—
समय की आंख में अटका हुआ
यह पल
आशा, आशंका
साहस, भीति
मिलना, बिछुड़ना
सब एक हो गोया
गिरने-गिरने को हो रहा पत्ता
अटका हुआ ज्यों
शाख से अपनी।

1987

स्मरण

घोसला सूना —
छोडकर जिसे चिडिया
जा वसी है घनी दूजी डाल —
शाख पर टिका है अब भी
स्मरण करता हुआ
कोमल पाखो का स्पश
सोचता है
बिखरने से मेरे शायद
वही दो-चार तिनके काम आ पायें
चिडिया के नये घर के लिए।

1987

खोज

वह जो वीरानी
मिला रहा था
पात-पात मे
हो गया है उसी मे लय

भटकती अब
खुद ही को खोजती है
उसे भजती हुई वीरानी।

1988

बसना

बसी रहती जो
उपस्थितियां निरन्तर
जाती हैं सो
जब भी इस सूनेपन में
भर जाते हैं हम।

1990

खटखटाता नहीं कोई

खटखटाता नही कोई
जो खुले रहते हे सदा
उन दरवाजो को
गुजरते रहते है लोग
उन मे से हो कर।

एक हलकी-सी थपकी
कभी चाह सकता हे कोई
जिस के लिए पर
होना पडेगा बन्द उस को —
खो देता है खुद को
दरवाजा रास्ता हो कर।

1990

लौटेगा जो

लौट आता सभी कुछ
यदि लौट आने से तुम्हारे
नही, पर लौटेगा वह
नही होगा गया था जो
गा कि तुम होगी ।

1990

लौटना

लौटना होता है
अंतत हर किसी को
खोल मे अपने ।

कितनी दुनिया सिमट आती है
खोल मे इस बीच
और फैल जाता है
कितना सूनापन दुनिया मे ।

1990

उतर गयी है झील

उतर गयी है झील
सिमट गया गड्ढे में
सारा पानी।
सूख गयी मिट्टी की ये झुर्रियां
अभी तक अन्दर से गीली है
जरा-सा छूते ही
भुरभुरा रही।

1988

आती है जैसे मृत्यु

आयी तुम
आती है जैसे मृत्यु
नष्ट करती हुई
जो कुछ नश्वर है मेरे भीतर
बनाती हुई स्मृति मुझे
अपने आने की —
अक्षर।

1987

নানা সমাজকথা

तू फिर गोचर होगी

तुम्हारी आँखों के आभे में
फैला है जो सूनापन
            वह मैं हूँ
पातहीन रूँख-सी देही
सोचती मुझ को ।

सोचो, और सोचो
      प्रार्थना-सा मुझे
इस सूनेपन की लय में घुल जाओ

तभी इस आकाश में फिर घिरेंगे बादल
अपने-आप से ही सिंचेगी फिर तू
नये पत्तों-सा
मुझे फिर पहन लेगी ।

समय   जो दम तोड़ता है अभी
भूखी-प्यासी, बिलबलाती भेड़-सा
हुलसते मेमने-सा चरेगा मुझको ।

तू फिर गोचर होगी ।

1987

रोही की पुकार

रोही की पुकार हो तुम
मुझे सम्बोधित नही चाहे
सुन तो रहा हूँ तुम को
भर तो रहा हूँ तुम से
मैं जो रोही का सूनापन हूँ।

1987

तुम उगी हो तो

गहरी और अँधेरी रात
पपड़ाती तलैया के
किसी कोने मे पड़ा-सा
          आँख-भर जल
ओढ कर नभ का अँधेरा
सोया हुआ माटी के अँधेरो मे।

हौले-से कामना-सी उगी हो तुम —
मुझ अँधियारे जल को दीप्त करती हुई।

कामना भी दीप्त करती है
यह तुम उगी हो
तो जाना है मैंने।

1987

खेजडी-सी उगी हो

खेजडी-सी उगी हो मुझ मे
—हरियल खेजडी-सी तुम
सूने, रेतीले विस्तार मे
तुम्ही मे से फूट आया हूँ
ताजी, घनी पत्तिया-सा ।

कभी पतझड की हवाएँ
झरा देगी मुझे
जला देगी कभी ये सूखे की आहे !
तब भी तुम रहोगी
मुझे भजती हुई अपने मे
सीचता रहूँगा मैं तुम्हे
अपने गहनतम जल से ।

जब तलक तुम हो
मेरे खिलते रहने की
सभी सम्भावनाएँ है ।

1987

अक्सर

अक्सर इत्मीनान से
मेरे साथ बैठी, बतियाती वह
डबडबा आती है अपने मे अचानक
जानी-पहचानी रेखाओ मे
उभर आता है अचानक नया चेहरा
—एक हलकी-सी बारिश
बदल देती है रेगिस्तान को जैसे !

अक्सर मुझे चिढाती
मेरी घबराहट पर शैतानी से मुस्कुराती
अचानक झुंझलाती है अकारण मुझ पर
—हवा उलझी हुई
रेत पर झुझलाये जैसे

अक्सर वह

1987

आशिष

'पोर-पोर को छका डालूंगी'
— तुमने कहा —
'मैं वह धारासार बारिश हूँ ।'
'नहीं'—मैंने कहा —
'फिर भी तुम एक मौसम हो,
मैं सदा रेगिस्तान ।'

और अब
रेत मेरी नियति-सी
जलने लगी फिर ।

पर वह बीच-बीच में
मिला था जो हरा थोड़ी देर
उस की याद
मेरी आत्मा की आशिष है तुम को ।

1989

देश

देश
पहले भी नहीं था
फिर नहीं है
यहाँ नहीं है लेकिन
        मरुथल ।

1990

हुई तो बारिश

हाँ, हुई तो बारिश
पर इतनी ही बस
कि धरती याद करने लगी है फिर
उसाँसें भरती हुई

उन कामनाओं को
जिन्हें जाने कब से
अपने सीने में कहीं गहरे दबाये थी वह
—कितनी सोंधी है, प्यार,
कामना की स्मृति भी !

अधगीली रेत से
जो बनाती हो घरौंदा तुम
वह भी तभी तक तो है
जब तक तुम उस को
चूमने दो पाँव अपना—
और तुम भी भला बैठी रहोगी कब तक
सूखती रेत यों ही थपथपाते हुए ?

ठीक है, मैं बिखर भी जाऊँ—
लेकिन अपने सपने का तब
क्या करोगी तुम
जो कि मैं हूँ ?

1987

शाम

हार हुए-से पड़े हैं
गर्म रेत के टीले,
ऊँट चुप हैं सर झुकाये—
डूबता सूरज दुबकती हवा।

बोल रहा जल

सूनेपन मे अँकुर फूटा
बोल रहा जल
रेतीली खामोशी मे ।

1983

कैसा

डूबता जाता

शहर

[बीकानेर के पुराने नगर से प्रेरित काव्य-शृँखला]

समतल नहीं है शहर

कदम-कदम पर
चढ़ाइयाँ हैं या ढलानें,
तंग गलियाँ हों या चौड़ी सड़क—
कहीं भी समतल नहीं है शहर।

जहाँ वैसा दीखता भी है
वहाँ वह पुल है
ढलान और चढ़ाई के बीच का पुल
थम कर जहाँ दो पल
लगाता है शहर ज़र्दा,
आराम से रखकर होठों के बीच
फिर पकड़ लेता रास्ता अपना
बेफ़िक्र, ठसक भरा—
हर कदम जब
या तो चढ़ाई है या उतराई।

कहीं भी समतल नहीं है शहर।

बूढा शहर

लाठी के सहारे, हाफता, बेदम
बूढा शहर
घाटी चढ रहा है—
धडधडाता गुजर जाता है अचानक
दुपहिया या तिपहिया कोई
बूढे को कुचलता-सा
छोडता हुआ मुंह पर धुआ।

घबराया, एक पल रुक कर
वह बुदबुदाता है कोई गाली
—सुनता नही कोई जिसे—
झुंझलाता, अपने ही से बडबडाता
चल देता बूढा शहर, चौकन्ना,
लाठी को और ताकत से
पकडता हुआ।

1990

आँगन छतें

छतें मिलती हैं छतों से
बल्कि अक्सर जा पहुँचती आँगनों तक
जो बीनते हैं नाज, धोते हैं कपड़े,
चमकाते एड़िया, सुखाते और
सँवारते बाल
हँसते-रोते-बतियाते ।

आँगनों पर आपस मे
फुसफुसाती छतें
किन्तु जानते हैं आँगन भी
फटे बिस्तरा, टूटे चीकट तकियों
और दरारों के बारे मे
जिन मे मरता रहता है पानी ।

पूरा शहर मानो एक छत है
आगनों से बँटी
या कि आँगन एक
जिस को जोड़ती हैं छतें ।

1990

हवेलियाँ

हवेलिया जितनी ऊँची है
उतने ही तग गोखे हैं —
खुलते नही जो कभी ।
जँगलो पर, छज्जो पर
बिखरी रहती है बीटें कबूतरो की ।

बडे-बडे आगन सूने हैं अन्दर
बाहर भीड भरे बाज़ार ।

1990

गलियाँ चौक

गलियाँ भी हैं चौक भी।
गलियां चौक में आ कर
नहीं मिलती अब
उस को बांटती हैं—
हर सू जोड़ती थी जो
टहलते हुए
दूसरे चौकों से खुद को
अब उन को काटती है
व्यग्र, भागते हुए सरपट वाहनों पर।

गलियाँ अब भी हैं चौक भी।

1990

बाजार हुए जाते हैं

कितनी तग-तग गलिया
आ मिलतो खुले चौक मे
अपने से जब भी
            बाहर आती।
पर चौक सभी बाजार
            हुए जाते हैं
कागुल-सी अपने मे बन्द
            हुई जाती हैं गलियाँ।

1990

बेघर हुआ जाता है

ढहते जाते हैं
हौले-हौले बतियाती, मुस्काती,
काही से काली पर सावन में हरियाती
दीवारों वाले घरवे —
खुलते जाते हैं बाज़ार
व्यग्र, शोरीदा, चमकीले।

किस धज, किस ढब में
यह शहर
बेघर हुआ जाता है।

1990

परकोटा

वाला पड़ता मौसम की मारो से
पर बड़े और सुदृढ ओसारो वाला
समोये
कभी चढानो, कभी उतारो को
अपने सीने मे—
अन्दर से बाहर जाने को
बाहर से अन्दर आने को
खुलते सभी दिशाओ मे
दरवाजे और बारिया
जिसके कारण यह शहर
एक घर होता था
परकोटा वह
गो अब भी है—
पर जगह-जगह से तोड
निकल आयी मनमानी राह
जितनी
उतना ही
होता जाता घर
बेदर, बेदीवार !

1990

दुपहर

तपती दुपहर
ऊँची हवेलिया की छाया में
ऊंघ रही ऊँची हवेलिया—
हाफता, दौड रहा है शहर।

1990

चरभर

तग गली की छाया मे
            पत्थर की चौकी
दो जन मेल रहे हैं चरभर—
एक चल रहा चाल
दूसरा मनोयोग से
मिला रहा
जर्दे मे चूना।

1990

छुट्टियाँ

कही नही होती हो चाहे हवा
फेरी वाली खिडकी मे से
बहती थी बगबग।
बिना किसी पँखे
या खस की टट्टी के
कट जाती थी
घिसी-फटी-सी ताश खेलते,
सुनते-सुनते कथा रामद्वारे मे
सारी तपती दुपहर
और बीत जाती थी
गर्मी की सारी छुट्टियाँ।

1990

सोया रहता है शहर

सुलगाता रहे आग सूरज,
आवे-सा अन्त तप्त चौक,
गम हवाएँ फिरे हर तरफ
झुलसाती हरियाली—
पर सोया रहता है शहर।

मन्दिर की खिडकी वाली फेरी मे,
घनी-घनी छाया मे
पीपल के गट्टे पर,
या गहरे तहखाने मे अपने उतर
शहर सोया रहता है।

1990

झोंका

एक शहर वेसुध है
ऊँची खुली छतो पर
एक काटता रात
खाँसते, पखी झलते
घर के वाहर की चौकी पर
नुक्कड के पाटे पर ।

वीच-वीच मे
हरियाता है
कही खो गयी दुनिया से
भटका आता
ठडी वयार का झोंका ।

1990

बैठक

जेह् पर लगी हुई
पुरखो की तस्वीरो पर
अन्दर
रज छाई है,
धूल से ढँके फर्श पर
वहियो की ढेरी मे
बिखरी चुहियो की लेंडिया,
जगह्-जगह् से सुलती जाती
लक्डी की छत,
सूख गयी मर कर
कोने में पडी छिपक्ली।
वाहर भूर उड रही
अपने मे बरसो से बन्द पडी
बैठक के चेहरे पर
लालिम होता था जो कभी।

1990

आरसी

आरसी
मँढी हुई भीत मे शाल की
देख रही है
दिन-दिन धुंधलाती आंखो से
फटता आगन
दरकी जाती दीवारें
गिरती छत
गलते ही जाते बारोठ —
सांस-सांस
उखडी जाती दासे की ।

1990

मढिया

मढिया के पास खडा
वह रूँख जाल का
घनी-घनी छाया मे जिसकी
गोवर चुगने वैठी रहती
दोनो-तीनो दादियाँ
हँसती-वतियाती दिन भर
वीत गये को करती जीवित
वीच-वीच मे नचा-नचा कर हाथ
झगडती—
'मेरा हक है इस पर,
मैंने पहले देख लिया था गोवर।'

1990

आलाप

चांदनी रात शीतल पहर
अपने मे डूब कर
आलाप लेता है
गली के मोड पर पाटा —
दो पल ठहर जाते, ताल देते हैं
अपने घर लौटते गमछे ।

मुंडेरें, जालियां
ऊंची छतों से झांकती
गुपचुप, पनीली ।

1990

बेलने लगती अपना पापड

दिनचढे से लगी
बीच मे पल-दो पल
विश्राम लेती है
पसीना पोछती है फट आचल से
टूटे गत्ते से करती हवा
दुखती हथेलियाँ दबाती है
देखती है भरी आँखो से
कोमल करतलो मे पड गये गट्टे।
लम्बी साँस भर
दो घूट जल पी कर
बेलने लगती अपना पापड फिर
उमसते, सर झुकाये हुए
यह नगरी।

1990

कच्ची ऊन-सी

जितने निकालती है कांटे
उतना ही कच्ची ऊन-सी
        खुद फँसी जाती है
कहां तक बचा पायेगा
दुपट्टा लीर-लीर यह
इन तीखे शूलों से
इस मासूम नगरी को ?

1990

भवितव्य

नही चारो फेर फैली
गेही ही केवल
पुरानी भीतें तक भी
खिली-खिली आती है
सावन मे—
जानती हुई
अपना पपडाया भवितव्य
खिरता हुआ।

1990

बारिश

प्यास लिये है
सदियो की अपने अन्दर जो शहर
दहल-दहल जाता है
हर बरसात मे लेकिन —
खडा है अभी तक जो
हर बारिश के बाद
कुछ-कुछ और झरता हुआ ।

1990

11,393
9/5/92

जल

चारो ओर फैली रेत-सी हो
या बजरी-सी हो
जितनी रूखी तपिश
दीखती रहती है हर वक्त
शहर के चेहरे पर—
उतना ही शीतल और मीठा है
अन्तस्तल की गहरी बावडियो,
कुडो और कुओ का जल ।

1990



नन्दकिशोर आचार्य

- 31 अगस्त 1945 को बीकानेर (राज)
- एम ए (इतिहास एव अग्रजी साहित
  पी एच डी (इतिहास) ।
- पत्रकारिता और प्रौढ शिक्षण कर्म क
  रामपुरिया कॉलेज बीकानेर में इतिहास च
- एवरीमेंस साप्ताहिक में उपसम्पादन
  में सह-सम्पादन, 'सप्ताहान्त में सहय
  कविता-द्वैमासिक चिति, साप्ताहिक '
  पाक्षिक 'अरुभरु' का सम्पादन। 'इत
  'राजस्थान पत्रिका व 'शिविरा पत्रिव
  समय तक स्तम्भ लेखन।
- राज साहित्य अकादमी क सर्वोच्च मी
  सम्मानित। चौथा सप्तक' में सम्मिलि
- वत्सल निधि क न्यासधारी
- जल है जहाँ (काव्य)
  शब्द भूले हुए (काव्य)
  वह एक समुद्र था (काव्य)
  अज्ञेय की काव्य तितीर्षा (आलोचना)
  रचना का सच (आलोचना)
  सर्जक का मन (आलाचना)
  देहान्तर (नाटक)
  पागलघर (नाटक)
  कल्चरल पॉलिटी ऑफ दी हिन्दूज (श
  दी पॉलिटी इन शुक्रनीतिसार (शोध)
  सस्कृति का व्याकरण (समाज-दर्शन)